International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 16-03-2026, Accepted: 16-04-2026, Published: 01-05-2026
Volume 12 Issue 2, 2026, Page No. 95-98

# व्यक्तिवाद और सामाजिक द्वंद्वः एक अध्ययन

**दिवाकर कुमार**
शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजधानी महाविद्यालय, दिल्ली विष्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

**सारांश**
यह शोध पत्र प्रमुख आधुनिक 'व्यक्तिवादी' रचनाओं में, व्यक्त 'व्यक्तिवाद' के उदय से उपजी सामाजिक द्वंद्व का अध्ययन करती है। कबीर के 'व्यक्तिवाद' से अलग, पाश्चात्य 'व्यक्तिवाद' का प्रचलन भारत के समाज में दिखता है। इसके प्रमुख कारणों में लेखक पर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव तथा भारत में तकनीक का आगमन है। भारत के समाज में पाश्चात्य 'व्यक्तिवाद' के बढ़ने से समाज में किस–किस तरह की समस्याएं उत्पन्न होती हैं, इसका अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के लिए प्रमुखतः उन कवियों की कविताओं को आधार बनाया गया है जिनमें व्यक्तिवाद और सामाजिक द्वंद्व दिखता है। यह शोध पत्र अज्ञेय की रचनाओं से शुरू करते हुए भगवत अनमोल जैसे लेखकों के साहित्य के अध्ययन पर आधारित है। अज्ञेय के साहित्य में जहां मनोविश्लेषणवादी 'व्यक्तिवाद' है, वही भगवान अनमोल के साहित्य में यथार्थ 'व्यक्तिवाद' है। क्योंकि आज समाज बहुत तेजी से बदल रहा है। इस बदलाव के कारण सामाजिक मूल्यों को मानने वालों और पालन करवाने वालों का, नई विचारधारा से द्वंद्व उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भारत एक विविध देश है और यहां व्यक्तिवाद, में भी विभिन्नता देखी जाती है। अतः इस शोध पत्र में साहित्यिक आधार के साथ–साथ कुछ समाचार पत्रों के खबरों का भी इस्तेमाल किया गया है, इससे जो छूटे हुए व्यक्तिवादी पहलू हैं, उन्हें भी इस शोध पत्र में शामिल करने का प्रयास किया गया है।

**मूल शब्दः** आधुनिकता, व्यक्तिवाद, सामाजिक द्वंद्व, रूढ़ि, सामाजिक व्यक्तिवाद

## परिचय

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, परंतु उसमें 'स्व' का भी वास होता है। जब यह 'स्व' सामाजिक दायरे से निकलकर, खुलकर, खुद की अभिव्यक्ति करने लगता है तो 'व्यक्तिवाद' का जन्म समझा जाता है। 'व्यक्तिवाद', व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधारित होता है तो वहीं समाज, 'व्यक्तिवाद' को सामाजिक नियमों के अंदर रखना चाहता है। यहीं से व्यक्ति और समाज का द्वंद्व शुरू होता है। भारतीय परिवेश में यह द्वंद्व सिर्फ वैचारिक नहीं, बल्कि भौतिक भी होता है। कभी–कभी यह द्वंद्व इतना तीव्र भौतिक रूप धारण करता है कि व्यक्ति इसमें हताहत भी हो जाता है।

कहना ना होगा कि भारतीय समाज में विभिन्नता के साथ कई प्रकार की रूढ़ियां भी व्याप्त हैं जो मानव जीवन की स्वच्छंदता को बाधित करती रहती है। प्राचीन भारत की वैदिक परंपरा से निकली कर्म के आधार पर, जाति व्यवस्था आज एक रूढ़ि के रूप में समाज को दूषित कर रही है। जाति से ध्यान हटाते ही, धार्मिक कट्टरता की भयावहता दिखती है। फिर जेंडर के आधार पर असमानता। फिर आर्थिक असमानता। फिर रंगभेद इत्यादि। इन सभी असमानताओं का सम्मिश्रित रूप महिलाओं पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है। इसलिए इतने सघन समाज में 'व्यक्तिवाद' का उदय देखना बहुत ही रुचिकर होता है।

वैसे तो 'व्यक्तिवाद' पाश्चात्य नवजागरण की देन मानी जाती है। परंतु हिंदी साहित्य के इतिहास में, कबीर में भी व्यक्तिवाद को देखा जा सकता है। कबीर ने जब, जहां चाहा, किसी भी प्रकार की रूढ़ि पर खुलकर अपना विचार प्रकट किया।

"जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।1।"[1]

कबीर का यह व्यक्तित्व उनमें 'व्यक्तिवाद' को तो दिखलाता है परंतु उसमें 'स्व' का लोप भी दिखता है। यह व्यक्तिवाद समाज को साथ लेकर चलने की कोशिश में दिखता है। समाज की रूढ़ियों को खत्म करने की कोशिश में दिखता है। परंतु दुखद समाचार यह है कि भारतीय समाज में कबीर का 'व्यक्तिवाद' न दिखकर, पाश्चात्य 'व्यक्तिवाद' ही दिखता है। जहां 'स्व' ही अहम बनता जा रहा है।

"चरम व्यक्तिवाद ही प्रयोगवाद का केंद्र बिंदु है।" भले ही प्रयोगवाद शुरू–शुरू में मध्यम वर्ग के आत्म विकास के लिए शुरू हुआ परंतु धीरे–धीरे यह व्यक्तिक प्रवृत्ति का होने लगा। और इससे यह समाज विरोधी लगने लगा। अज्ञेय जैसे लेखकों ने इस तरह की मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की रचना की, जिससे समाज की जो मूल धारणाएं थी, वह भी उखड़ने लगी। व्यक्तिवाद का चरम रूप 'शेखर:एक जीवनी' उपन्यास में अच्छे से अज्ञेय ने दर्शाया है। अज्ञेय का यह मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास व्यक्ति की उन आकांक्षाओं को भी हमारे सामने रख देता है, जो भारतीय समाज में स्वीकार्य नहीं है।

चुकी हिंदी साहित्य में 'व्यक्तिवाद' का प्रखर रूप अज्ञेय की रचनाओं से ही शुरू होता है इसलिए हम इस अध्ययन को अज्ञेय के समय से ही शुरू करेंगे। अज्ञेय की कविता 'अपने प्रेम के उद्वेग में' की ये पंक्तियां व्यक्ति के स्वातंत्र्य से उपजी, सामाजिक द्वंद्व को सही तरीके से दर्शाती है।

"तुम्हारे और मेरे बीच में जो कुछ भी घटित होता है उसे एक तीक्ष्ण वेदना–भरी अनुभूति मात्रा होती है–कि यह सब पुराना है, बीत चुका है, कि यह अभिनय तुम्हारे ही जीवन में मुझसे अन्य किसी पात्र के साथ हो चुका है!"[3]

आधुनिक विचारधारा के उदय से व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति को अहम मानता है। एक व्यक्ति के लिए समर्पण, की विचारधारा को चुनौती मिलने लगी। आधुनिक विचारधारा को मानने वाला व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न व्यक्तियों में वह तलाशता है जो उसे चाहिए। इससे मानवीय संबंध, एक व्यक्ति तक सीमित न रहकर विस्तृत होते जाते हैं। परंतु इसी आधुनिक कहलाने वाले व्यक्ति की यह भी आकांक्षा होती है कि वह जिससे संबंध स्थापित करने वाला है, उसका पहले कोई संबंध न हो। यह घटना व्यक्तिवाद से उपजी, बहुत बड़े द्वंद को सामने रखती है।

मुक्तिबोध की ब्रह्मराक्षस कविता 'व्यक्तिवाद' के विस्तृत अर्थों को दर्शाती है जहां समाज के बीच व्यक्ति के पिसने का द्वंद्व,

मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद और अपराधबोध तथा समाज का दायित्व क्या होना चाहिए यह दिखता है।

"पिस गया वह भीतरी औ'
बाहरी दो कठिन पाटों बीच'
ऐसी ट्रैजेडी है नीच!!"[4]

जब व्यक्ति का अंतर आधुनिक हो जाए परंतु वह जिस परिवेश में जीता है, वह जिस समाज में रहता है, वह पौराणिक रूढ़ियों से ही भरा हुआ हो तो अंतर और बाहर का एक द्वंद्व शुरू होता है। व्यक्ति इस अंतर और बाहर के बीच सामंजस्य नहीं बिठा पाता, चुकी समाज संवेदनहीन, उपयोगितावादी बना हुआ रहता है। व्यक्ति और समाज में समन्वय के न, होने के कारण, व्यक्ति ट्रेजेडी का शिकार हो जाता है।

"तन की मलिनता दूर करने के लिए
प्रतिपल पाप–छाया दूर करने के लिए, दिन–रात
स्वच्छ करने–
ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह..
खूब करते साफ,
फिर भी मैल
फिर भी मैल!!"[5]

यहां व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक द्वंद्व और समाज से अलगाव दिखता है। भले ही इंसान कितना भी आधुनिक हो जाए, वह है तो सामाजिक प्राणी ही। समाज से कट जाने पर व्यक्ति के भीतर जो अपराध बोध और वैचारिक उलझन पैदा होती है, ब्रह्मराक्षस की यह पंक्तियां उसे भली भांति दर्शा रही है। व्यक्ति इस सामाजिक अलगाव को दूर करना चाहता है, वह इसका प्रयास बार–बार करता कि यह अलगाव मुझसे दूर हो जाए। द्वंद्व जो उसके मन में चल रहा है, उसे वह शांत करना चाहता है। इसी द्वंद्व को शांत करने में जब वह विफल हो जाता है, तो उसका 'स्व' खत्म हो जाता है, और समाज यह असंवेदनशीलता दर्शाता नजर आता है।

मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' आदर्शवादी 'व्यक्तिवाद' के पालन से उपजी, यथार्थवादी समस्याओं का विवरण मिलता है, तथा इन समस्याओं से सामाजिक द्वंद्व को अच्छे से दर्शाता है। यह नाटक 'मल्लिका' के इर्द–गिर्द घूमता है। यह शुरू भी उसी से होता है और खत्म भी उसी पर। "मल्लिका : क्या कहते हैं? क्या अधिकार है उन्हें कुछ भी कहने का? मल्लिका का जीवन उसकी अपनी संपत्ति है। वह उसे नष्ट करना चाहती है तो किसी को उस पर आलोचना करने का क्या अधिकार है।"[6] यहां मल्लिका में 'व्यक्तिवाद' का चरम दिखाई पड़ता है। व्यक्ति जब समाज में रहता है, तो समाज के नियमों के विपरीत जाने पर, उसे समाज की आलोचना भी झेलनी पड़ती है। परंतु यहां मल्लिका समाज का, व्यक्ति पर, आलोचना करने का अधिकार नहीं मानती। इस अधिकारवादी सामाजिक सत्ता को वह नकार देती है, और यह दर्शाती है कि व्यक्ति पर व्यक्ति का ही अधिकार है, समाज का नहीं।

इस नाटक में मल्लिका के शुरुआती व्यक्तित्व में 'स्व' की महत्वता देखी जाती है। मल्लिका यह कहती है कि मैं अपनी सहज भावना से प्रेम करती हूँ। और इसी भावना में वह आगे चलती जाती है। व्यक्तिवाद के आदर्श रूप में वह जीवन को जीने की आस लेकर चलती है। नाटक के पहले अंक की समाप्ति के साथ ही मल्लिका का यह आदर्श 'व्यक्तिवाद' सामाजिक द्वंद्व से घिरने लगता है, उसके सामने बार–बार सामाजिक बंधनों में बंद जाने का ढाबा भी बनता रहता है। परंतु इन सभी सामाजिक दबाबों को झेलती हुई वह आदर्श को साथ लिए हुए चलती है। "कालिदास : किसके रोने का शब्द है यह?, मल्लिका : यह मेरा वर्तमान है।"[7] पहले अंक में जो मल्लिका 'स्व' को श्रेष्ठ समझकर आगे चल रही थी। तीसरे अंक में वह उस 'स्व' को खोई हुई प्रतीत होती है। और ऐसा प्रतीत होता है कि किसी के अधिकार क्षेत्र में उसका 'स्व' चला जाता है, और संभवत वह समाज ही है।

धर्मवीर भारती की रचना 'कनुप्रिया', 'व्यक्तिवाद' बनाम सामाजिक या ऐतिहासिक दायित्व' को दर्शाती है और इससे उपजे सामाजिक द्वंद्व को।

"अपनी जमुना में
जहाँ घंटों अपने को निहारा करती थी मैं
वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई
अगणित नौकाओं की पंक्ति रोज–रोज कहाँ जाती है?
धारा में बह–बह कर आते हुए, टूटे हुए रथ
जर्जर पताकाएं किसकी हैं?"[8]

व्यक्ति का अपना संसार होता है, उसका अपना 'स्व'। वह जीवन के सुंदर पलों को एक–एक कर अच्छे से बुनता है। परंतु समाज के बड़े और अति क्रूर फैसलों जैसे युद्ध के कारण, जीवन की सुंदरता नष्ट होने लगती है। यहां व्यक्ति का समाज से प्रश्न है कि 'सामाजिक उपक्रमों के लिए व्यक्ति की निजता या यूं कहें 'स्व' का अतिक्रमण करना जरूरी है?' यह व्यक्ति की निजता पर हावी होती सामाजिक नियमों अर्थात व्यक्तिवाद और समाज का द्वंद्व दर्शाता है।

"मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रंगे हुए अर्थहीन आकर्षण शब्द थे
तो सार्थक फिर क्या है कनु?...
कनु, फिर उन शब्दों से
मुझी को इतिहास कैसे समझाओगे?"[9]

व्यक्ति का 'स्व' तब आहत हो जाता है जब समाज व्यक्ति के भावनाओं को निरर्थक साबित करने लग जाता है। जब सामाजिक व्यवस्था व्यक्तिगत प्रेम या निष्ठा को या मानवीय भावनाओं को निरर्थक मानकर उसे स्वीकार करने से इनकार कर देती है तो इस कृत्य से व्यक्ति का 'स्व' विद्रोह कर उठता है। यह पंक्तियां समाज के उसी पक्ष पर सवाल खड़ी करती है। जहां सामाजिक स्वार्थ के लिए, व्यक्ति का 'स्व' नकार दिया जाता है। यहां व्यक्ति का तर्क कि 'यदि व्यक्ति का 'स्व' निरर्थक है, तो कोई भी महान सामाजिक काम सार्थक कैसे हैं, क्योंकि अंततः व्यक्ति द्वारा ही उसे किया गया है। यह समाज में व्यक्तिवाद की महत्ता सिद्ध करती नजर आती है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता कुआनो नदी व्यक्तिवाद और सामाजिक द्वंद्व, विशेष कर महानगरीय व्यवस्था के खिलाफ व्यक्ति के आंतरिक अलगाव को दर्शाती है। इस कविता में 'स्व' के लुप्त हो जाने का जिक्र भी है।

"जिंदगी से ऊब कर मर नहीं सके।
तट पर न रेत थी न सीपियां
सख्त कंकरीली जमीन थी
काई लगी, कहीं–कहीं दलदल था३"[10]

जब व्यक्ति अपने ग्रामीण परिवेश को छोड़कर बड़े शहरों या किसी महानगर में जाता है तो वहां की संवेदनहीन सामाजिक

स्थिति का प्रभाव उस पर पड़ता है। यहां व्यक्ति की ग्रामीण पहचान बिल्कुल लुप्त हो जाती है। उसे लगता है जैसे उसका 'स्व' यहां अस्तित्वहीन हो गया। इन पंक्तियों में प्रदर्शित स्थिति उस विशाल और अंधी शहरी सामाजिक राजनीतिक सत्ता का प्रतीक है जिसके सामने एक आदमी का 'स्व' यानी 'व्यक्तिवाद' पूरी तरह लाचार दिखाई देता है। शहरी समाज ने व्यक्ति को एक गहरे दलदल में छोड़ दिया है जहां उसके जीने के लिए ना तो कोई सुंदर आदर्श है और न ही वह इस व्यवस्था से मुक्त हो पा रहा है। जहां व्यक्ति अपने जिम्मेदारियां में 'स्व' के अस्तित्व को भूल बैठता है, अवसाद और बेचौनी उसे घेरे रहते हैं।

दुष्यंत कुमार का ग़ज़ल संग्रह 'साये में धूप (1975)' पाश्चात्य व्यक्तिवाद को भूलकर, कबीर के सामाजिक व्यतिवाद की ओर बढ़ती नजर आती है। यह व्यक्तिवाद अज्ञेय ,मुक्तिबोध और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के व्यक्तिवाद से थोड़ा अलग होकर, खुले सामाजिक विद्रोह में बदल जाती है।

"कहां तो तय था चिरागां हर एक घर के लिए
कहां चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।"[11]

जब अपने ही देश की व्यवस्था इतनी क्रूर हो जाए कि व्यक्ति के बुनियादी और निजी अधिकार, संवेदनहीनता के साथ, कुचल दिए जाएं, तो व्यक्ति का व्यवस्था के प्रति मोहभंग होना स्वाभाविक है। यह शेर 1970 के दशक के भारतीय जनमानस का दर्द बयां करती है। जहां व्यक्तिगत विकास के लिए जो संसाधन आते हैं उसे भ्रष्टाचार जनित सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था निगल जाती है। इससे व्यक्ति में एकजुट होने का भाव उत्पन्न होता है, जिससे इस भ्रष्टाचारी व्यवस्था का विरोध किया जा सके। यहां कबीर के सामाजिक व्यक्तिवाद का, आधुनिक समाज में अर्थ समझ में आता है।

"यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है,
चलो यहाँ से चलें और उम्र भर के लिए।"[12]

जब देश की संस्थाएं, जो व्यक्ति की सुरक्षा के लिए बनाई गई थी। वही व्यक्ति का शोषण करने में लिप्त हो जाए, तो व्यक्ति का उससे मोह–भंग होना और उस सामाजिक ढांचे से निकलना स्वाभाविक है। संस्थाओं की इस क्रूरता से समाज में पलायन की शुरुआत होती है, क्योंकि जिन संस्थाओं को व्यक्ति की सुरक्षा के लिए बनाया गया था वहीं अब उन्हें असुरक्षित महसूस करवाने लगी है। इसी से आधुनिक व्यक्तिवाद की एक बड़ी त्रासदी हमारे सामने उभरकर सामने आती है।

भगवत अनमोल का उपन्यास 'प्रमेय' अपनी कथा के माध्यम से यह समझाता है कि इंसान कितना भी आधुनिक हो जाए कितनी भी तकनीकी विकसित कर ले, वह प्रेम करने की चाहत नहीं छोड़ता। प्रेम संपन्नता को बढ़ावा देता है, अज्ञान, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा को खत्म करता है। व्यक्ति के जीवन में प्रेम, जब इतना महत्वपूर्ण है, तो समाज में इसकी राह भी आसान होनी चाहिए थी। परंतु भारतीय समाज का अध्ययन करने पर पता चलता है कि भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़ियां, व्यक्ति की इस महत्वपूर्ण भावना को हर वक्त दबाने का काम करती है।

"मेरे जीवन में धर्म में इतने व्यवधान पैदा किए थे कि इसने मेरी जिंदगी हराम करके रख दी थी। जीना दुष्वार कर दिया था। धर्म की वजह से कदम–कदम पर रुकावटें थी, आलने के साथ नहीं खाना, फलाने को नहीं छूना, ढिमकाने के साथ ब्याह नहीं करना। सबसे बड़ी बात यह थी कि काश, धर्म या मजहब नहीं होता तो मेरी प्रेमिका मेरे साथ होती।"[3] ऐसे ही नहीं कहा गया है कि साहित्य समाज का आईना होती है। इस उपन्यास की यह चंद पंक्तियां भारतीय समाज की एक बहुत बड़ी समस्या को उजागर करती है। जिस समाज का युवा भावनात्मक रूप से संतुलित ही नहीं होगा, वह देश के विकास में कैसे योगदान दे सकता है? वह खुद के भावनात्मक आंतरिक द्वंद्व को कैसे शांत करेगा? भारतीय समाज की रूढ़ियां, भारतीय जनमानस में इस तरह बैठी हुई है, जो इस सहज मानवीय भावना को भी गलत बना देते हैं। युवाओं के भावनात्मक विकास के समय में, इन रूढ़ियों का ऐसा अवरोध सामने आता है कि युवाओं में भावनात्मक असंतुलन स्थापित हो जाता है, यह युवा जीवन भर इस भावनात्मक असंतुलन को एक कुंठा की तरह ढोते रहते हैं और इनका जीवन इसी कुंठा के इर्द–गिर्द घूमता रहता है।

वैसे तो आज का समाज इन भावनाओं की महत्ता को समझने लगा है, इसे अपनाने लगा है, परंतु जिस समाज में इस भावना के प्रति ज्यादा जागरूकता नहीं है, मध्यकालीन रूढ़ियों की प्रबलता अधिक है, वहां व्यक्ति और समाज में द्वंद अभी भी जारी है। इसका प्रमाण देने की आवश्यकता मालूम नहीं होती, क्योंकि आए दिन हम समाचार पत्रों, सोशल मीडिया पर ऐसी खबरें सुनते रहते हैं जिसमें व्यक्ति और समाज का द्वंद्व साफ दिखता है। अंतर–धार्मिक प्रेम करने पर लव जिहाद कह दिया जाता है तो कही प्रेम विवाह करने पर परिजनों द्वारा ही ऑनर किलिंग कर दिया जाता है। इन कृत्यों से व्यक्ति और समाज का द्वंद्व सिर्फ वैचारिक नहीं रह जाता बल्कि यह भौतिक रूप धारण कर कभी–कभी बहुत विकराल भी हो जाता है। यह बात मानने में कोई परहेज नहीं कि इन द्वंद्वों ने रूढ़ियों की जर कमजोरी की है।

## निष्कर्ष

समाज में व्याप्त रूढ़ियों के कारण ही समाज व्यक्ति के 'स्व' को अपने अधीन बनाए रखना चाहता है। समाज में व्याप्त यह रूढ़िया ही, व्यक्ति और सामाजिक द्वंद्व को जन्म देती है। हमने ब्रह्मराक्षस कविता के अध्ययन में यह पाया कि व्यक्ति जब अंदर से कुछ और हो जाता है और बाहरी समाज कुछ और होता है तो वह उन दोनों के बीच में संबंध स्थापित नहीं कर पाता है इससे व्यक्ति का व्यक्तिवाद नष्ट हो जाता है। यहां व्यक्ति के जीवन में समाज महत्वपूर्ण भी हो सकता है यदि वह व्यक्ति को सही से समझे। अंततः चुकी मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जहां कबीर के समय में सामाजिक व्यक्तिवाद था, अज्ञेय के काव्य में मनोविश्लेषणात्मक तथा पाश्चात्य व्यक्तिवाद, फिर 70 के दशक में दुष्यंत कुमार के काव्य में पुनः सामाजिक व्यतिवाद का उदय देखा जाता है तो भगवंत अनमोल के साहित्य में पुनः पाश्चात्य व्यक्तिवाद स्थापित होता दिखता है। यह व्यक्तिवाद मानवीय आकांक्षाओ को केन्द्र में रखकर चलता है। किसी भी प्रकार की रूढ़ि को एक झटके में खत्म नहीं किया जा सकता, इसे समाज से दूर करने में अच्छा खासा वक्त लगता है और साथ ही अच्छी शिक्षा भी इसमें मददगार होती है।

## संदर्भ


1. https://www-hindwi-org/poets/kabir/dohe
2. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983, पृष्ठ–128
3. https://www-hindwi-org/kavita/apne-prem-ke-udweg-mein-agyeya-kavita?sort=popularity-desc
4. https://www-hindwi-org/kavita/brahmarakshas-gajanan-madhav-muktibodh-kavita
5. वही
6. मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एंड संज, नई दिल्ली, 2016, पृष्ठ–6
7. वही, पृष्ठ–69

8. धर्मवीर भारती, कनुप्रिया, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984, पृष्ठ–68
9. वही, पृष्ठ–67
10. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुआनो नदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984, पृष्ठ–13
11. दुष्यंत कुमार, साये में धूप (https://l1nq-com/1bh09i4)
12. वही
13. भगवंत अनमोल, प्रमेय, राजपाल एंड संज, नई दिल्ली, 2021, पृष्ठ–14